

f' k'k eaofnd; xhu f' k'k k i) fr dh orZku i fjç; eami knş rk

MW fp=k t S

संस्कृत विभाग, जे०वी० जैन कालिज, सहारनपुर, उ०प्र०, भारत

प्राचीन काल से शिक्षा धर्म-प्रधान रही। वैदिक युग की धार्मिक क्रियायें शिक्षा पर ही आधारित थीं। शिक्षा का अर्थ मात्र साक्षरता नहीं वरन् संयम, सरल, सहज, समभाव, सहयोग, संस्कार और सर्वगुणसम्पन्नता थी। दण्डी ने काव्यादर्श में शब्द की ज्योति बताकर सम्पूर्ण त्रिलोक को इसके बिना अंधकारपूर्ण कहा है -

“इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाहं ज्योतिरा संसारन् दीप्यते।।”

धर्म से परिपूर्ण यह शिक्षा न केवल आध्यात्मिक रहस्यों, कर्मकाण्ड, उपासना और मोक्ष की ओर अग्रसारित करती थी वरन् वैदिक युगीन शिक्षा व्यक्ति का चारित्रिक विकास, इन्द्रियों पर निग्रह, कला एवं शास्त्रों का समुचित ज्ञान, कर्तव्य और अधिकार, व्यवहार और संस्कारों को भी सिखाती थी। विद्या अमूल्य रत्न है, इस संसार का सार है -

“विद्ययाऽमृतश्नुते”

“ऋते ज्ञानान् मुक्तिः”

आजीवन सीखने की प्रक्रिया ही शिक्षा है जो जन्म से मृत्यु तक अनुभवों को बटोरते हुए चलती है। शिक्षा मानव का ज्ञान रुपी तीसरा नेत्र है। यह विद्या ही है जो माता की तरह रक्षा करती है, पिता के समान हित बताती है और पत्नी के समान सुख देती है -

‘मातेव रक्षति, पितेव हिते नियुक्ते

कान्तेव चापि रमयत्य पत्नीम् स्वदेम्।।’

प्राचीन परम्परा में रहकर आज भी शिक्षा का उचित रूप से नियोजन शिक्षक, शिक्षार्थी, और शिक्षा के मापदंड को तय करता है।

सर्वप्रथम तत्कालीन शिक्षण-प्रणाली को जानना और समझना ही आज के सन्दर्भ में शैक्षिक ढांचे का स्तर उच्च कर सकता है। वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति गुरुकुल-प्रधान थी जिसमें छात्र माता-पिता और परिवार से अलग गुरु के आश्रम में अन्य सहपाठियों के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शास्त्र और शास्त्र का अध्ययन करता था। यह शिक्षा उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होती थी जो शैशवावस्था से बाल्यावस्था तक चलती थी। यही संस्कार बालक छात्र बनकर गुरु के निकट जाने की परम्परा का नाम है। बालिकाएं भी तब ब्रह्मचारिणी ही रहती थीं -

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् - अथर्ववेद - 11.5.18

तत्कालीन प्रणाली में पाठ को कठस्थ करना, उच्चारण पर विशेष बल देना, शुद्ध उच्चारण और स्वर विषयक (उदात्त, अनुदात्त व स्वरित) ध्यान देना, मात्राओं पर (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) उचित बल देना होता था। गोष्ठियों और नीतिविषयक वाद-विवाद की प्रमुखता थी। अध्यापन और विभिन्न कलाओं को सीखने के साथ ही आचरण की शुद्धता और गुरु आज्ञा का पालन अनिवार्य था। आचरण की शुद्धता और संयम गुरु एवं शिष्य दोनों का ही आवश्यक गुण होता था -

“आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणमिच्छते - अथर्ववेद - 11.5.16

इसके साथ ही गौ-पालन, कृषि, चिकित्सा आदि कार्यों को करना। छात्र उस समय शिक्षा वृत्ति का भी निर्वाह करते थे जिससे उनमें ऊंच-नीच की भावना से दूर ‘अहंकार’ का हनन किया जाता था। गुरुकुल में भोज्य पदार्थों में सात्विक भोजन तामसिक वृत्तियों से दूर रखता था और मन में सत्व गुण का उदय करता था। मांस-मदिरा एवं अन्य अभक्ष्य पदार्थ चित्त की पवित्रता और निर्मलता में बाधक होते थे और मानसिक उद्वेग को बढ़ाने का कारण होते थे जिससे परस्पर मित्रता का अभाव हो जाता है, सहयोग और समन्वय की भावना समाप्त हो जाती है। अतः आवश्यक है कि वर्तमान परिवेश में अपने रहन-सहन और खान-पान में भी परिवर्तन किया जाये।

orZku i fjç; eamDr ijEjk dh mi knş rk

प्राचीन समाज में गुरु का स्थान सर्वोच्च होता था और गुरु-आज्ञा अनिवार्य। गुरु-भक्ति में छात्र अपना सर्वस्व देने के लिए तैयार रहता था। गुरु की सेवा-सुश्रूषा करता था-

“गुरुब्रह्माः गुरुर्विष्णुः गुरुदेवो महेश्वरः।

गुरु साक्षात् परमब्रह्म तस्मै श्री गुरुवैनमः।।”

कालिदास ने भी रघुवंश के पंचम सर्ग में गुरु को सूर्य जेसा तेजस्वी बताया है। यह गुरु का सम्मान ही है कि राजा दशरथ ने गुरु विश्वामित्र के कहने पर अपने प्राणों से प्यारे पुत्रों राम और लक्ष्मण को अल्पायु में ही असुरों के नाश के लिए भेज दिया था। जहां छात्र उक्त रूप से पूर्णतया गुरु के प्रति समर्पित थे वह गुरु ही पिता के बाद वह स्थान रखता है जो हर जगह स्वयं विजयी होकर भी अपने शिष्य से पराजित होने में ही अपनी उपलब्धता मानता है। अभिभावकों से बढ़कर शिक्षक कर्तव्यनिष्ठा के साथ संतान के समान ही दायित्वों का निर्वाह करता था। गुरु के

उपदेश से ही कल्याण होता है, ज्ञान शान्ति एवं सुख मिलता है और इस ऋण से कोई उद्धार नहीं हो सकता -

“एकमप्यक्षरं यस्तु गुरु शिष्ये निवेशयेत्।

प्रथिव्यां नास्ति तदद्रव्यं यद् दत्त्वा सोऽनृणी भवेत्।।”

सुप्रसिद्ध कवि कबीर ने भी गुरु की महिमा को स्वीकार करते हुए कहा है -

गुरु गोविन्द दौऊ खड़े काके लागूँ पाँय।

अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षक और शिष्य दोनों को ही शिक्षा को कड़ी मानकर भावनात्मक रूप से वैदिक शिक्षण पद्धति का अनुकरण करना चाहिए। आज शिक्षण-संस्थाएँ और शिक्षक जहां मात्र स्वार्थवश अर्थ-अर्जन में संलिप्त हैं और राजनीति के संरक्षक बन गये हैं और छात्र भी गुरु के सम्मान को ताक पर रखकर मनमानी करते हैं। इसके विपरीत शिक्षक और शिक्षार्थी को बदलाव की आवश्यकता है। शिक्षण पद्धति में निज स्वार्थ से ऊपर शिष्य और गुरु के मध्य वही भावना प्रवाहित करनी होगी तभी शिक्षा का स्तर सर्वोच्च हो सकेगा।



डॉ० चित्रा जैन संस्कृत विभाग, जे०वी० जैन कालिज, सहारनपुर में कार्यरत है। इन्होंने मार्च 2005 में प्रवक्ता (मानदेय) पदभार ग्रहण किया है। अब तक ये लगभग 8 प्रपत्र विभिन्न सम्मानित शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित करा चुकी हैं एवं कई राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में सहभागिता दे चुकी है। अपने अब तक के कार्यकाल में ये कालेज पत्रिका-कमेटी एवं अनुशासन समिति की सदस्य रह चुकी हैं।